ग्रहण मिथक और भारतीय समाज

मूल लेख: रणजीत गुहा
संपादन: गौतम पांडेय

सत्ता संबंधों के प्रति निम्न वर्ग (सबाल्टर्न) और अभिजात्य वर्ग (एलीट) के दृष्टिकोण मिथकों, उपासना पद्धतियों, कर्मकांडों और रिवाज़ों के रूप में संग्रहित होते रहते हैं और लोगों की आस्था में भी झलकते हैं। अलबत्ता इनकी ठीक-ठीक व्याख्या आसान नहीं होती। अक्सर ये मौखिक परम्परा का हिस्सा बन जाते हैं और समय के साथ इनमें बहुत कुछ जुड़ जाता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार डी. डी. कोसांबी ने बताया है कि किस प्रकार हमारी

संस्कृतियों में प्राचीन आदिवासी अतीत के अवशेष तथा बाद में होने वाले सामाजिक विकास के तत्व मौजूद हैं। निम्नतम जातियां ''प्राय: अपने जनजातीय अनुष्ठानों, रस्मों तथा मिथकों को आज भी बचाए हुए हैं।'' ये मिथक अपने शुरुआती स्वरूप में नहीं हैं। अलबत्ता यदि गौर किया जाए तो अनेक मिथकों का मूल स्रोत किसी प्राचीन अनिर्णीत द्वंद्व में पहचाना जा सकता है। इस नज़रिए से ग्रहण संबंधी मिथकों का एक विश्लेषण यहां दिया जा रहा है।

1

मिथक :1

... समुद्रमंथन से प्रकट हुए रूपवान देव धन्वंतरी के हाथ में अमृत से भरा एक सफेद तूंबा था। इस चमत्कार को देखते ही दानवों ने अमृत के लिए चीत्कार किया – यह हमारा है। परन्तु भगवान नारायण ने अपनी सम्मोहिनी शक्ति का प्रयोग कर, एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री का रूप धारण कर लिया और दानवों के पास जा पहुंचे। सुंदरी के रूप के वशीभूत दैत्यों और दानवों ने अमृतघट उसे सौंप दिया। मोहिनी के रूप में विष्णु ने वह अमृत देवताओं को पिलाना शुरू कर दिया। राहु नामक एक दानव ने यह चाल समझ ली। वह देवता का रूप धरकर उनकी पंक्ति में जा बैठा। इस प्रकार उसने भी अमृतपान किया। तभी अपनी पंक्ति में बैठे इस दानव को पहचान कर सूर्य और चंद्रमा ने शोर मचाया। चक्रधारी विष्णु ने तुरन्त दानव का सिर धड़ से अलग कर दिया। लेकिन अमृत पान करने के कारण उसका सिर और धड़ दोनों ही राहु और केतु के नाम से जीवित रहे। तभी से दानव के सिर यानी राहु और सूर्य व चन्द्रमा के बीच शत्रुता चली आ रही है। माना जाता है कि सूर्य और चंद्रग्रहण के समय राहु कुछ समय के लिए दोनों को निगल लेता है।

दैवी हिंसा के इस प्रतीक में नैतिकता के प्रश्न पर संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। सृष्टि निर्माण के द्वंद्व में दो विरोधी शक्तियों के बीच – अमृत तथा विष (कालकूट) के बीच, देवताओं व दानवों के बीच – परस्पर क्रिया अनिवार्य थी। अमृत के लिए लड़ाई में विष्णु ने अपनी शक्ति देवताओं के साथ जोड़ दी तथा दानवों का जायज़ हिस्सा हड़पने के लिए एक ओछी, यौन आधारित तरकीब अपनाई। फिर भी जब एक बहादुर दानव ने उनकी पंक्ति में जा बैठने का दुस्साहस किया तो उसे दोहरे अपराध का दण्ड देना आवश्यक हो गया। एक तो देवताओं का भोजन हड़पने की धृष्टता का तथा

दूसरा उनके आनुष्ठानिक भोज को भ्रष्ट करने का। इस तरह से उस अमृत उत्सव को वध का अवसर बनाते हुए दंड के सर्वोच्च ब्राह्मणीय मानक के अनुकूल दोषी का सिर काट दिया गया।

ग्रहण और लोक कथाएं

अनेक संस्कृतियों में ग्रहण से संबंधित मिथकों और अनुष्ठानों में वियुक्ति और विकृति की जो धारणा है उनके साथ यह प्रतीक अच्छा मेल खाता है। ग्रहण "एक व्यवस्था में व्यवधान का प्रतीक है जो सूर्य और चन्द्रमा, रात और दिन, प्रकाश और अन्धकार, गर्मी और सर्दी के चक्र को चलाने वाली व्यवस्था को भंग करती है।"

आम आदमी की सोच में सामाजिक व्यवस्था में होने वाली गड़बड़ियां, ग्रहण के समय प्रकृति के कार्य में होने वाली अशुभ गड़बड़ी से संबंधित हैं। ऐसा माना जाता है कि ग्रहण प्रजनन चक्र को भी गड़बड़ा सकते हैं। वे जन्म को स्थगित या विकृत करके जीवन-मृत्यु के चक्र में रुकावट पैदा कर सकते हैं। अतः लोककथाओं में प्रसव पर ग्रहण के दुष्प्रभावों के बारे में बार-बार चेताया गया है। गर्भवती औरतों और कुछ क्षेत्रों में तो उनके पतियों को भी ग्रहण देखने की मनाही है अन्यथा विकलांग बच्चा पैदा होता है। यहां तक कहा जाता है कि ग्रहण के दौरान जिस तरह का काम किया जाता है वैसा ही प्रभाव बच्चे के शरीर पर स्थाई रूप से पड़ जाता है, जैसे कि कतरने-काटने का काम करने पर जन्म के समय बच्चे का कटा हुआ ओंठ, लकड़ी काटने पर अंगुलियों पर वैसे ही निशान, ताले

का काम करने पर टेढ़ी अंगुलियां तथा माता-पिता द्वारा आंखों में सुरमा लगाने या माथे पर तिलक लगाने पर शरीर पर अनेक प्रकार के जन्म-चिन्ह आ जाते हैं।

ये सभी बातें धर्मशास्त्र में वर्णित दण्डविधान के अनुकूल हैं। इनके अनुसार पापी के शरीर का वह अंग दण्डित होता है जो सीधे तौर पर पापक्रिया का भागी हो। ग्रहण के समय प्रसव होने पर हानि शारीरिक दोष तक सीमित नहीं रहती। वह अनेक तरीकों से मनुष्य को जीवन भर सता सकती है: "यदि किसी का जन्म राहु की दशा में हुआ हो तो उसकी बुद्धि, सम्पत्ति व सन्तान को हानि होती है, उसे अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है तथा उसका शत्रु-पक्ष प्रबल रहता है।"

ग्रहण के कारण समाज को वैसा ही सूतक लगता है जैसा मृत्यु के बाद लगता है। इसकी व्याख्या में शुचिता की हिन्दू धारणा और राहु के मिथक को साथ-साथ रखा गया है: "... जब ग्रहण लगता है तो राहु जो एक विशाल सर्प है, सूर्य या चन्द्रमा को ग्रस लेता है। इस तरह से ग्रहण का अर्थ सूर्य या चन्द्रमा में से एक की मृत्यु है, अतः जितनी देर ग्रहण रहता है लोगों को मृत्यु सूतक का पालन करना चाहिए।"

कुछ दूसरी धारणाओं के अनुसार इस अपवित्रता का कारण सूर्य या चन्द्रमा की मृत्यु नहीं बल्कि राहु का आगमन है। ठीक उसी तरह जिस तरह किसी अछूत की छाया मात्र से ब्राह्मण दूषित हो जाता है। चूंकि इस तरह की अपवित्रता संक्रामक है इसलिए जितने समय तक ये ग्रह राहु की पकड़ में रहते हैं, पूरा संसार सूतक यानी अपवित्रता की स्थिति में रहता है। किसी दानव की परछाई भी उतनी ही दूषित होती है जितना किसी भंगी का स्पर्श इसलिए जिस-जिस पर वह परछाई पड़ती है वे सभी अपवित्र हो जाते हैं।

इस सदी की शुरुआत में गुजरात के उच्चवर्गीय रीतिरिवाज़ों के बारे में एक प्रेक्षक ने लिखा है: "ग्रहण के समय सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही अपवित्र हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जिस पर भी उनका प्रकाश पड़ता है वह भी अपवित्र हो जाता है।" परिणाम स्वरूप सारा खाना और पीने का पानी भी दूषित हो जाता है और उसे फेंक दिया जाता है। ग्रहण की अवधि में न तो खाना पकाया जाता है, और न ही चावल साफ करने या मसाला पीसने का काम किया जाता है। ग्रहण की अवधि में मृत्यु भी अशुभ मानी जाती है।

राहु के दुष्प्रभावों को कम करने के लिए सुझाए गए कर्मकाण्ड उसकी कुत्सित छवि को सुदृढ़ करने का काम करते हैं। इनमें कुछ रीतियों का संबंध

गंध से है। मसलन, दक्षिण भारत में ग्रहण के समय जानवरों के खुर और सींगों को इस उम्मीद से जलाते हैं कि दुर्गन्ध से दुष्ट आत्माएं दूर रहेंगी। मगर इससे भी प्रचलित उपाय शोर मचाने का है। अठारहवीं सदी में एक ईसाई मिशिनरी ने अपने सफरनामों में "कथित दैत्य के मुंह से विशाल निवाले को निकालने के लिए हो-हल्ले का ज़िक्र किया है।" जैसे असम में घंटे बजाने, नीलगिरि की टोडा जनजाति में चिल्लाने और कुर्ग में गोलियां दागने की परंपरा है।

इस तरह से मिथक और कर्मकाण्ड ने मिलकर राहू की उस शास्त्रोक्त हिन्दू छवि को पुष्ट किया है जो ब्रह्मांड और समाज दोनों के लिहाज़ से एक शरारती ताकत है, आकाश में जिसके आगमन मात्र से ब्राह्मणों के दिलों में विश्व विनाश का भय पैदा हुआ था।

राहु और उसके अनुयायी

परन्तु इस विषय में जीत ब्राह्मणों की नहीं हुई। भक्षक और दूषक के रूप में बदनाम होने के बावजूद हिन्दू समाज के निचले स्तर पर राहु के अनुयायी बड़ी तादाद में हैं। औपनिवेशिक काल के साहित्य में हमें इसके कई प्रमाण मिलते हैं। 19वीं सदी के आरंभ में बुकानन-हैमिल्टन से लेकर राज के आखिरी पचास वर्षों के दौरान अनेक प्रशासकों व मानवजाति-विश्लेषकों ने यह माना है कि ग्रहण संबंधी प्राचीन धारणा आज भी डोम, दुसाध, भंगी और मांग जैसी कई जातियों की आस्था प्रणाली का जीवन्त तत्व है।

अपने भीतरी ढांचे और जीवन-शैली के लिहाज़ से ये जातियां काफी भिन्न हैं, परन्तु एक साथ देखने पर ये एक समूह बनाती हैं। ब्रिग्स ने इसे डोम समूह कहा है। घोर गरीबी, सामाजिक लांछन और अस्पृश्यता इन सभी ने समान रूप से भोगी है। आज से करीब पचहत्तर साल पहले एक पर्यवेक्षक ने उनकी दशा का वर्णन कुछ इस प्रकार किया था:

"वह (डोम) अरहर के खेत में पैदा होता है और बचपन से ही चोरी की तालीम पाता है। कल उसके पास सिर पर छत और पेट में रोटी होगी या नहीं, यह भी उसे पता नहीं होता। वह निरंतर पुलिस से छिपता भागता और गांवों से निकाला जाता रहता है।... हिन्दू धर्म उस तक पहुंचने में असफल रहा है... तथा सभ्यना की प्रगति ने उसे और अधिक गर्त में ढकेल दिया है।"

यह विवरण चाण्डालों और श्वपचों के बारे में मनु की धारणा से काफी मिलता जुलता है और कई विद्वानों के अनुसार यही चाण्डाल और श्वपच

ऊपर वर्णित जातियों के पूर्वज थे।

"...चाण्डाल और श्वपचों के घर गांव की सीमा के बाहर होंगे... उनकी संपत्ति कुत्ते और गधे होंगे। उनका पहनावा मुर्दों के उतारे वस्त्र होंगे। वे टूटे-फूटे बर्तनों में खाना खाएंगे, लोहे के आभूषण पहनेंगे और हमेशा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहेंगे। .... रात के समय वे गांवों या कस्बों में नहीं घूमेंगे।"

ज़ाहिर है कि बीतते समय के साथ भी डोम तथा इस समूह की अन्य जातियों की सामाजिक स्थिति में कोई फर्क नहीं आया। मनु के आदेशानुसार वे 20वीं सदी तक एक स्थान से दूसरे स्थान तक भटकते रहे। शास्त्रों में उनकी यह खानाबदोशी एक फतवा है, वहीं अंग्रेज़ी राज के सरकारी दस्तावज़ों में इसे उनका स्वभाव बताया गया है। यह इस बात का सूचक है कि पिछले डेढ़ हज़ार सालों में मानवजाति संबंधी लेखन धार्मिक से धर्मनिपेक्ष हुआ है। परन्तु पुरातन से लेकर आधुनिक काल तक की यह विकास यात्रा एक ऐतिहासिक परिघटना पर टिकी है। यह ऐतिहासिक परिघटना है कुछ आर्य-पूर्व जनजातियों द्वारा आर्यों के कृषि प्रधान समाज व उनकी ब्राह्मणों के आधिपत्य वाली आध्यात्मिक व्यवस्था में समाहित होने से इंकार। कोसांबी ने इस तथ्य का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है:

"आज भी हम सामाजिक संरचना के सबसे निचले स्तर पर शुद्ध आदिवासी समूहों को ही पाते हैं। उनमें से कई अब भी भोजन संग्रहण की अवस्था में ही हैं जबकि बाकी समाज भोजन उत्पादन की अवस्था में है। इसलिए इन भोजन संग्रहकर्त्ताओं के लिए भोजन संग्रहण का मतलब भीख मांगना या चोरी करना हो जाता है। अंग्रेज़ों ने इन निम्नतम जातियों को 'अपराधी जनजाति' नाम ठीक ही दिया क्योंकि अपने जनजातिय कानूनों के अलावा वे किसी प्रकार के नियम-कानूनों को मानने से इन्कार करते थे।

"विभिन्न स्तरों में बंटे इस भारतीय समाज में हमें न केवल इतिहास की झलक मिलती है बल्कि उसकी समझ भी बढ़ती है।... यह बड़ी सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि कई जातियों का सामाजिक-आर्थिक स्तर इसलिए नीचा है क्योंकि उन्होंने हमेशा से भोजन उत्पादन और खेती-बाड़ी को अपनाने से इंकार किया है। ये निम्न जातियां प्रायः कबीलाई अनुष्ठानों, रिवाज़ों और मिथकों को जीवित रखती हैं।"

यह प्रामाणिक तौर पर बताया गया है कि डोम और मांग जैसी कुछ जातियां शुद्ध रूप से आदिवासी मूल की हैं। जबकि दुसाध और भंगी जैसी जातियों की उत्पत्ति तो जनजातिय है

मगर उनमें गैर-जनजातिय लोग भी शामिल हो गए हैं। बहरहाल खास बात है उनकी खेती करने की अनिच्छा। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अन्न उत्पादन के प्रति उनकी यह ऐतिहासिक अनिच्छा उन्हें अपने पुरखों से मिली हैं। अपनी इसी अनिच्छा के कारण वे खानाबदोश खेतिहरों या भूमिहीन मज़दूरों के रूप में अपनी जीविका कमाने को मजबूर रहे। गांवों में सबसे गरीब होने के कारण वे ज़मींदारों व सरकार के लिए बेगार के मुख्य स्रोत बने व सबसे 'घृणित काम करने को विवश किए गए।' इसके अलावा एक विकल्प के रूप में इनके हिस्से आवारगी की ज़िन्दगी और साथ ही भीख मांगने या चोरी-चकारी की आदत ही आई। धीरे-धीरे ये जातियां खेती-बाड़ी पर निर्भर होते समाज के हाशिए पर रह गईं। मनु के ज़माने से ही बाकी जनसंख्या इन्हें अन्तवसायिना: के रूप में घृणा से देखती थी और अधिकारी वर्ग संभावित अपराधी मानकर इन्हें सताते थे। उपनिवेशी राज ने उनकी जीविका के मुख्य स्रोत जंगलों को उनकी पहुंच से बाहर करके उनके जीवन को और भी अभावग्रस्त बना दिया, साथ ही उनके नाम के साथ अपराधी जनजाति का ठप्पा लगाकर उनके बहिष्कृत दर्जे को और भी बढ़ा दिया।

अपवित्र निम्न जातियां

इन जातियों के जीवन में जितनी गरीबी और सामाजिक अवनति पाई जाती है वह आनुष्ठानिक अपवित्रता के समकक्ष ही है। धर्मशास्त्रों में उन्हें एक तरह से अपवित्रता का जीता जागता स्वरूप कहा गया है। यहां तक कि उनके शारीरिक स्पर्श तथा कुछ मामलों में तो उनकी छाया पड़ने मात्र से उच्च जाति वाले पाप के भागी होते हैं। उसके प्राचश्चित स्वरूप सख्त दण्ड व शुद्धीकरण के अत्यंत कठिन अनुष्ठानों का आदेश है। ये कोई खोखले ब्राह्मणीय आदेश नहीं थे। हम पाते हैं कि 18वीं सदी तक सामाजिक प्रथाएं इन आदेशों के अनुरूप होती थीं।

देशी राजाओं के शासन में पूना नगर में दोपहर तीन बजे से सुबह नौ बजे तक महार और मांग जाति का प्रवेश निषिद्ध था क्योंकि इस वक्त उनके शरीर की परछाई लम्बी होती थी जिसके स्पर्श से लोग अपवित्र हो सकते थे। लगता है कि उपनिवेशवाद का 'आधुनिक' प्रभाव भी इस प्रकार के पूर्वाग्रहों को दूर नहीं कर पाया। ब्रिटिश शासन के अन्तिम दशक में लिखा गया यह ब्यौरा इस बात का प्रमाण है:

"जब किसी डोम को न्यायिक अदालत में गवाही के लिए बुलाया जाता है तो वहां बैठे अन्य लोग उसके

स्पर्श से बचने के लिए अपने कपड़े समेट लेते हैं। इस तरह का व्यवहार इस वर्ग के अन्य समूहों जैसे भंगी आदि के साथ भी किया जाता है।"

मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस तरह के घृणा के पात्रों ने स्वयं इस धारणा को इतना स्वीकार कर लिया है कि वे खुद भी अपनी अपवित्रता में विश्वास करते हैं। सभी के साथ कोई न कोई ऐसा मिथक जुड़ा हुआ है जिससे पता चलता है कि पुराने ज़माने में किए किसी पाप के कारण उन्हें ऐसा दर्जा मिला है। आम तौर पर उस पाप का संबंध उनके किसी पूर्वज द्वारा ब्राह्मणों के बनाए पवित्रता के किसी नियम को भंग करने से होता है। सबसे पहले डोम – सुपच भगत के बारे में कहा जाता है कि जब शिव-पार्वती ने सभी जातियों को खाने पर बुलाया तो वह देर से पहुंचा और बचा-खुचा खाना खाया। तभी से उसके वंशज सभी जातियों का बचा-खुचा भोजन खाने के लिए बाध्य हैं। इसी तरह की कहानी भंगी भी अपनी वर्तमान हालत के कारण के रूप में सुनाते हैं। इस कहानी में राम और सीता, शिव-पार्वती की जगह ले लेते हैं। इन दोनों समुदायों में उनके पुरखों द्वारा मरे हुए जानवरों को छूने जैसा अपवित्र काम करने की दंतकथा भी है। मांग जाति में उनकी जन्मजात अपवित्रता की वजह उनके एक पुरखें द्वारा एक सांड का बन्धयाकरण करने के कारण मिले श्राप को बताया जाता है। हिन्दु पौराणिक कथाओं में सांड को शिव का वाहन माना जाता है। इस तरह की अनेक कहानियां हैं जिनके माध्यम से ये बदनसीब अपनी बदन-सीबी को जायज़ साबित कर पाते हैं।

मगर यह कहना ठीक नहीं होगा कि यह ठेठ धार्मिक सोच हिन्दू समाज के निम्नतम वर्ग को तसल्ली देने का एक तरीका भर है। दरअसल इसी चेतना के कुछ और तत्व भी हैं जो समांतर मिथकों और दंतकथाओं के माध्यम से प्रकट होते हैं। ये भी उसी निम्नवर्ग द्वारा गढ़े गए हैं। ये मिथक धार्मिकता का प्रयोग सीधे विद्रोह की घोषणा के रूप में नहीं तो बेकसों की आह का बोध करवाने हेतु तो करते ही हैं।

स्वीकृति या विद्रोह

इस तरह की आलोचनात्मक सोच के तत्व इन जातियों की आस्था-प्रणाली में साफ तौर पर दिखते हैं। इस समीक्षात्मक सोच में सामाजिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को स्वीकार करने की बजाय अवज्ञा का रुझान है। मगर इस सोच को कार्यरूप देने का ऐसा कोई सशक्त प्रयास नहीं दिखता है कि दुनिया पलट जाए। बल्कि अपने

सामर्थ्य को पहचानने की इसी असफलता के कारण उनकी आस्था-प्रणाली, उनका फायदा न करके, कर्मकाण्डों के दिखावे के ज़रिए उस वर्चस्व को ही बढ़ाती रही है। यह विरोधाभास ही निम्न जातियों की धार्मिकता के मूल में है। अतः इन दोनों प्रवृत्तियों को साथ-साथ देखना होगा – प्रभुताशाली संस्कृति की तरफ झुकाव की प्रवृति और विद्रोह की ओर खींचने वाली प्रवृति।

डोम समूह के कुछ मिथक इस विरोधी मगर पूरक प्रवृत्ति को साफतौर पर अभिव्यक्त करते हैं। इसका पता हमें इस तरह चलता है कि जिन वास्तविक और मिथकीय चरित्रों को प्रभुताशाली संस्कृति में बिल्कुल निम्न व अवांछनीय माना गया है, उन्हें ही ये जातियां देवता मानकर पूजने की आध्यात्मिक धृष्टता करती हैं। वास्तविक चरित्रों के खास उदाहरण वे वास्तविक चोर और डाकू हैं जिन्हें मरने के बाद महिमा मंडित किया गया, मिथकीय चरित्रों में दंतकथाओं के नायक हैं जिनके साहसिक कारनामों ने इन डरे हुए कमज़ोर लोगों को खूब प्रभावित किया और वे इनके लिए शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों तरह की अति-मानवीय ताकत के उदाहरण बन गए।

इतिहास में दो कारणों से बड़ी उथल-पुथल हुई है। एक आर्यवाद और दूसरा उपनिवेशवाद। ये पौराणिक नायक उन दोनों उथल-पुथल की आध्यात्मिक विरासत का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनता का एक बड़ा भाग न तो कृषि प्रधान समाज की भौतिकवादी संस्कृति से जुड़ा और न ही ब्राह्मणों द्वारा शासित हिन्दु धर्म की आध्यात्मिक संस्कृति में घुल-मिल पाया। यहां तक कि अंग्रेज़ी राज के समय तक यह वर्ग अलग-थलग ही रहा। इन्होंने अपने लिए अपराध का एक वैकल्पिक जीवन ढूंढ लिया है तथा उसी के साथ जोड़ बैठाते हुए धर्म का वैकल्पिक स्वरूप भी बनाया, जिसके अन्तर्गत अपराधी देवता बन गए।

इस प्रक्रिया के अंतर्गत हिन्दू समाज के कुछ प्रमुख मूल्यों को पलट दिया गया और धर्म के रक्षकों की नज़र में सर्वथा समाज-विरोधी मानी जाने वाली चीज़ों को उच्च धार्मिक स्थान दे दिया गया। यह प्रक्रिया इतने लंबे समय से चली आ रही है कि हम इसे एक प्रति-परंपरा कह सकते हैं। इतिहासकार कौसांबी के अनुसार देश के पश्चिम में यह माना जाता है कि वहां की एक देवी बोल्हाई (कोरा जनजाति) डाकुओं के साथ चली गई थी। लगता है कि बोल्हाई बड़े समय तक इस बर्बर जनजाति की संरक्षक रही होगी। इसी प्रकीर से दुसाध जाति के लोग गौरैया और सलेश नामक लुटेरे नायकों को पूजते हैं, गडंक नामक डाकू अपने साथी समैया के साथ मधैया

डोमों का पूज्य बन गया और डाकू सरदार स्याम सिंह तो पूरे डोम समूह का रक्षक देव व पूर्वज माना जाता है। ये सब इन जातियों के जनजातिय प्रागैतिहास के गवाह हैं। हिन्दु मन्दिरों की मूर्ति परम्परा से अलग इन जातियों के देवता पत्थर और पिण्ड के रूप में मिलते हैं। इससे भी इन जातियों के बर्बर जनजातिय अतीत की धारणा पुष्ट होती है। साथ ही देवताओं को सुअर, मुर्गा और शराब चढ़ाने का रिवाज़ है जो खास तौर पर ब्राह्मणीय परंपरा के विरुद्ध है।

डाकू से देवता बनने वाला एक अन्य चरित्र है वाल्मीकि, जिनका सम्प्रदाय किसी खास प्रदेश तक सीमित नहीं था। दक्षिण समेत पूरे उपमहाद्वीप में वाल्मीकि अनेक निम्न जातियों के आराध्य हैं। सभी हिन्दू भी यह दंतकथा मानते हैं कि किस तरह से वाल्मीकि ने हिंसा का रास्ता छोड़कर तपस्या की और उससे उन्हें मुक्ति मिली, परन्तु अछूतों ने अपने पूर्वजों से जुड़े अनेक मिथकों के साथ वाल्मीकि का नाम जोड़कर उन्हें भी अपना लिया। उन्हीं में से एक कहानी के अनुसार वे क्रमशः डोम और भंगियों के पूर्वज कालू और जीवन के पिता थे। कुछ अन्य कहानियों में उन्हें भंगियों के पूर्वज लालबेग या उनके पुत्र के रूप में, डोम जाति के संस्थापक सुपच भगत के रूप में पहचाना जाता है। एक कथा में उन्हें एक पाण्डव भाई नकुल के रूप में पहचाना गया है जिसे शब्दों के हेर-फेर के आधार पर प्रथम भंगी का दर्जा दिया जाता है।

वाल्मीकि का एक अर्थ 'अच्छा लड़का' भी है। कथा के अनुसार एक शव को उठाने के लिए नकुल को राज़ी करने हेतु उसके भाइयों ने इसी शब्द का उपयोग किया था। इस प्रकार से, भाषा के हेर-फेर से, नकुल बाल्मिक और आगे चल कर वाल्मीकि बन गए। फिर इसी तरह के भाषाई खिलवाड़ के ज़रिए वे सूप बनाकर बेचने वाले लोगों के पूर्वज सुपच भगत के रूप में पहचाने गए। डाकू से कवि बने वाल्मीकि ने रामायण में एक अत्यंत सद्गुणी शुद्र के वध को आदर्श न्याय माना है क्योंकि वह आध्यात्मिक उत्कृष्टता व उसके फल का इच्छुक था, जो केवल ऊंची जाति वालों का एकाधिकार था। भंगी जाति ने इसका अच्छा जवाब दिया कि उन्होंने बिन-सुधरे डाकू को ही 'संस्कृतिकरण' के बगैर ही अपना पुरखा व संरक्षक देव मान लिया। यदि सामाजिक दस्युता की धारणा को हम उस उभयमुखी नैतिकता की अभिव्यक्ति मान लें जो निम्न वर्ग की तथाकथित अपराधी प्रथाओं के मूल में है, तो वाल्मीकि तथा अन्य कई देवता बने अपराधियों की पूजा उस नैतिकता की धारणा का चरमोत्कर्ष है।

यह वैकल्पिक नैतिकता और उसमें

निहित आलोचना सिर्फ दस्युओं को ही आध्यात्मिक दर्जा देने के उदाहरण में ही नहीं बल्कि पौराणिक कथाओं के खलनायक राजा वेण को अपनाने में भी दिखता है। ब्राह्मणीय साहित्य राजा वेण की दुष्टता से भरा पड़ा है। मनु ने उस पर विधवा विवाह आरंभ करवाने, या कम-से-कम उसे सहन करने का आरोप लगाया है। पद्म पुराण के अनुसार वह एक अच्छा राजा था परन्तु जैन विधर्म की ओर भटक गया था। धर्माचार्यों के अनुसार उसका सबसे बड़ा अपराध यह था कि उसने ऐसे सारे अनुष्ठानों, बलि, उपहारों आदि पर रोक लगा दी थी, जो स्वयं उसको समर्पित न हों। पण्डितों द्वारा उलाहना दिए जाने पर उसने तिरस्कार पूर्वक कहा था "राजा ही सारे भगवानों का साकार रूप है ...." ऋषियों व पंडितों के लिए यह सब असहनीय था, इसलिए उन्होंने कुश की धार से उसे काट दिया। कहा जाता है कि मलेच्छ व विंध्य क्षेत्र की निषाद जैसी जंगली जातियां उसके शरीर से ही उत्पन्न हुई हैं, और डोम भी अपने आप को उसका ही वंशज बताते हैं जो शायद उनकी जनजातीय उत्पत्ति दर्शाता है। इन दावों का ऐतिहासिक आधार कुछ भी हो, परन्तु ये डोम परम्पराओं में मिलने वाली विद्रोह की प्रवृति से मेल ज़रूर खाते हैं, जैसे कि बस्ती-गोरखपुर के डोम राजाओं ने ब्राह्मणों की बेटियों से विवाह का प्रस्ताव कर उन्हें क्रुद्ध कर दिया था।

निम्न जातियां और ग्रहण

राहु भी देवताओं का दुश्मन और ब्राह्मणों के लिए एक समस्या है। डोम समूह में राहु का महत्व निम्न जातियों द्वारा वर्ण व्यवस्था और हिन्दू संस्कृति के वर्चस्व के विरोध का एक और नमूना है।

पूर्णिया क्षेत्र में किए गए एक अध्ययन से मालूम होता है कि नाथपुर के दुसाध इस मामले में ब्राह्मणों की अवज्ञा के रूप में अपने रीति-रिवाज़ों का प्रदर्शन करते थे। वहां राहु की पूजा के दौरान उनके भगत पहले उबलते पानी में हाथ डालते थे, फिर दहकते अंगारों पर तीन बार चलते थे। सभी दर्शक या कम-से-कम दुसाध तो यही मानते थे कि देवता आने के कारण ही उस पर आग का असर नहीं होता। वे लोग आसपास उपस्थित ब्राह्मणों को भी ललकारते थे कि वे भी उनके भगत की तरह चमत्कार करके दिखाएं।

अभिजात और निम्न जातिओं के धार्मिक स्वरूप के अंतर्विरोधों पर रोशनी डालने का काम कर्मकांडो के एसे प्रदर्शन की अपेक्षा ग्रहण के बारे में निम्न जातिओं में प्रचलित मिथक

बेहतर करते हैं। ये मिथक पौराणिक कथाओं के समानांतर चलते हैं और एक स्वतंत्र वैचारिक समझ की शृंखला-सी बनाते हैं। यह शृंखला अलग-थलग नहीं चलती बल्कि इसमें शास्त्रोक्त हिन्दू मिथकों को अपना रंग देकर उनका रूप बदल दिया जाता है। इसके लिए एक तरफ तो राहु का संबंध डोम अनुयायिओं से जोड़ा जाता है और दूसरी तरफ उसे जाति की सामाजिक और भौतिक परिस्थिति के धरातल पर रख दिया जाता है। इस तरह से मिथक के स्वरूप में जो परिवर्तन आता है वही निम्न जाति की वैचारिकता की खासियत बन जाता है। इस बात को अगली कहानी में समझते हैं।

मिथक :2

. . . . . लंका में रावण को हरा कर लौटने पर राम ने अपनी विजयी सेना के लिए भोज का आयोजन किया। भोजन परोसते हुए महादेव ने पार्वती का ध्यान वहां बैठे एक नीच जाति के मांग लड़के की ओर दिलाकर कहा कि वे उसे दूर से ही भोजन परोसे। परन्तु राम ने उस लड़के को देखते ही उसका वध कर दिया। क्योंकि उस लड़के ने अपनी उपस्थिति से भोज को अपवित्र करने की जुर्रत की थी। उसकी मां ने लड़के का कटा हुआ सिर उठाकर टोकरी में रखा और पानी छिड़क कर उसे ज़िंदा करने का नाकाम प्रयास करने लगी। टोकरी में रखे सिर को उठाए मां ने सभी देवी-देवताओं से भोजन की भिक्षा मांगी। ऐसा करते हुए वह सूर्य व चंद्रमा के पास भी पहुंची। उसने उन्हें धमकी दी कि उसकी इच्छा पूरी न की गई तो वह छूकर उन्हें अपवित्र कर देगी। उस औरत की टोकरी की परछाई जब सूर्य और चंद्रमा पर पड़ती है तो ग्रहण लगता है। इसलिए उस हठी मांग औरत को हटाने के लिए लोगों से कहा जाता है कि वे सूर्य और चंद्रमा को भेंट चढ़ाएं और मांग जाति के लोगों को दान दें। . . . .

पहली नज़र में ही यह दिख जाता है कि किस तरह से इस कहानी में परिवर्तन लाए गए हैं। मिथक-1 की कहानी महाभारत में थी। यह कहानी रामायण में है। और विष्णु की जगह राम आ गए हैं। यहां अपराधी कोई दानव नहीं बल्कि एक अछूत है और उसका अपराध है कि उसने अपनी सीमा को लांघा है। पिछले मिथक के विपरीत इस मिथक में सिर कटने के बाद बदले का भाव नहीं है, बल्कि अपने बेटे को खोकर मां न्याय की खोज में भटकती है। वह सभी देवताओं के आगे हाथ पसारे भीख मांगती है जबकि मिथक-1 में राहु, सूर्य और चन्द्रमा को ग्रसकर आक्रामक रूप धरता है।

परिवर्तनों की इस पूरी शृंखला में प्रमुख बात यह है कि राहु की पहचान मांग जाति से जाड़ी गई है और मांग जाति की सभी परिस्थितियां व

भावनाएं राहु पर आरोपित की गई हैं। भारतीय मिथकों में मनुष्य व ईश्वर की मिलीजुली पहचान आम बात है। इसके लिए तीन उपकरणों का उपयोग होता है – व्याकरण, वंश और सम्प्रदाय। वैयाकरणिक उपकरण किन्हीं दो के बीच योजक पद का काम करता है जैसे 'अ' और 'ब' दोनों एक हैं। मिथक-2 में राहु एक मांग है। मध्यप्रदेश की कुछ लोककथाओं के अनुसार राहु मेहतर या भंगी है। वंश उपकरण इस रूप में आता है कि 'अ' 'ब' का पूर्वज है। बिहार के तिरहुत क्षेत्र के दुसाध राहु को अपना आदि-पुरुष मानते हैं, जो युद्ध में मारा गया था; जबकि मिर्ज़ापुर के दुसाध उस राहु को अपना वंशज मानते हैं जिसे एक झगड़े के बाद बंगाल से उत्तरप्रदेश जाते वक्त पुरी में जगन्नाथ मंदिर में बंद कर दिया गया था। पश्चिमी भारत के मांग भी किसी ऐसे ही राक्षस के वंशज माने जाते हैं जो ग्रहण के समय चन्द्रमा को निगल लेता है। सम्प्रदाय उपकरण का काम किसी देवता के अनुयायी निर्धारित करना है (अर्थात 'ब', 'अ' की पूजा करेगा)। चूंकि पुजारी और संरक्षक देव के बीच वही संबंध होता है जो बच्चे का अपने माता-पिता के साथ होता है, इसलिए वास्तव में अन्तिम दो उपकरण एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं। इसलिए राहु पूजक सम्प्रदाय उसके वंशज भी हैं, हालांकि उनमें से कुछ के पास अपनी उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए दुसाध और मांग जैसे मिथक नहीं हैं।

मध्यस्थ की भूमिका

यहां हम जिस वैचारिक ढांचे की बात कर रहे हैं उसमें ये कड़ियां बहुत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन्हीं कड़ियों की बदौलत पूरे अछूत वर्ग को ग्रहण, उसकी अपवित्रता व कुटिलता के सभी खतरों में वाहक (मध्यस्थ) की भूमिका हासिल होती है – चूंकि वे राहु के लोग हैं, इसलिए वे ही राहु को मनाकर सूर्य और चन्द्रमा को छुड़वा सकते हैं। विडम्बना देखिए कि हिन्दू समाज के सबसे दुर्बल और हेय वर्ग से निवेदन किया जाता है कि वे लोगों को ग्रहण के नुकसान से बचाएं। इसमें उन्हें एक झूठी ताकत मिल जाती है।.... जैसे वे राहु और सूर्य-चन्द्रमा दोनों पर अधिकार रखते हों। राहु पर अधिकार कि वे उससे ग्रहों को छुडवा सकते हैं, और सूर्य-चन्द्रमा के साथ-साथ उन पर निर्भर बाकी सारे लोगों पर अधिकार क्योंकि वे ही उन्हें बचा सकते हैं। ग्रहण के समय इन्हें जो भेंट आदि देने का विधान है वह इनके इस महत्व को स्वीकृति देता है।

बंगाल और बिहार के रिवाज़ उत्तरप्रदेश में प्रचलित इस रिवाज़ से काफी मिलते-जुलते हैं। यहां दान न देकर उच्च जाति के गृहस्थ डोमों के

लिए अपने घर के बाहर तांबे के सिक्के रख देते थे।

मध्य प्रदेश में यह विश्वास है कि राहु या तो सफाई करने वाला था या सफाई करने वालों का इष्टदेव, इसलिए ग्रहण के समय लोग इन्हें दाने देते हैं ताकि वे राहु को प्रसन्न करके सूर्य/चन्द्रमा को मुक्त कराएं। गुजरात में ऐसे मौकों पर अंधेरा होते ही भंगी ग्रहणदान, वस्त्रदान, रूपादान चिल्लाते हुए सड़कों पर निकल पड़ते थे।

5

ग्रहण दान – दान या हक

उच्च जातियों के नज़रिए से ये उपहार पृथ्वी पर पवित्रता तथा स्वर्ग में शांति बनाए रखने के लिए दिया गया मूल्य भर है। यह एक कुपित दानव को शान्त करने की प्रक्रिया मात्र है। इसलिए इस कर्मकाण्ड को शान्ति कहा जाता है। ब्राह्मणीय नज़रिए से (मिथक-1) देखने पर इन उपहारों का कोई और अर्थ निकाला ही नहीं जा सकता।

परन्तु अछूत दान प्राप्त करने वालों के द्वारा इन उपहारों को बिल्कुल भिन्न अर्थ में लिया जाता है। जैसा कि मिथक -2 से मालूम होता है। उसके अनुसार मांग औरत द्वारा हठपूर्वक दान लेने के पीछे वह अधिकार है जो उसके पुत्र की हत्या के बाद बेसहारा रह जाने के कारण उसे मिला है। उसे मिलने वाला दान एक तरह से देवताओं का पश्चाताप है, क्योंकि देवताओं के देव राम (विष्णु) तथा शिव ने ही उसके बेटे के प्रति हिंसा की थी। इसलिए जो उसका अधिकार है वह उसे न देना वास्तव में गलत कार्य होगा। अतः ग्रहण के समय दान पाना मांग औरतें अपना हक समझती हैं – एक तरह से न्यायपूर्ण मुआवज़े की नैतिक मांग है यह।

दूसरी ओर दान देने वालों के लिए भी यह एक नैतिकता का सवाल है – उसका हक उसे न देना गलत होगा। हिन्दुओं के लिए दान की धारणा दो-तरफा है जिसमें दानी और दान प्राप्त करने वाले के बीच एक परस्पर निर्भरता का संबंध होता है। इसमें एक प्रकार से 'आर्थिक आध्यात्म' का नियम लागू होता है। इसके अन्तर्गत जिनके पास साधन हैं उनका यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे दूसरों के साथ उन्हें बांटें। इससे उन्हें आध्यात्मिक तुष्टि प्राप्त होती है जो भौतिक सम्पदा से कम नहीं है। और इससे भौतिक संपदा भी बढ़ती है। इससे वे मांगने व देने (यानी दान) का क्रम भंग करने के पाप से भी बच जाते हैं।

ग्रहण और दान से जुड़ी एक कथा राजा हरिशचंद्र की है। राजा हरिशचंद्र को एक डोम ने खरीद लिया था। इस कथा का डोम संस्करण यह है कि जब हरिशचंद्र स्वर्ग से वापस आकर भीख मांगने लगे तो भगवान ने कहा कि यदि कोई उन्हें भोजन देने से मना करेगा तो सूर्य और चांद गायब हो जाएंगे। डोम आज उनके नाम पर भिक्षा मांगते हैं।

मिथक :3

. . . . . सूर्य और चन्द्रमा भाई-भाई हैं। उनका एक भूखा भक्त उनके पास आया और बोला– "मैं निर्धन और भूखा हूं, मुझे कुछ खाने को दो।" दोनों भाई एक भंगिन के पास गए और बोले कि इस आदमी को अनाज दे दो। वह राज़ी हो गई। भाइयों ने उस औरत से कहा कि वह डिब्बे की तली से अनाज निकाले और वे उसे ऊपर से भर दिया करेंगे। सूर्य और चन्द्रमा पूरा साल अपना वादा नहीं निभा सके। जब एक वर्ष समाप्त हो गया तो औरत ने कहा, चूंकि डिब्बा भरा हुआ नहीं है, इसलिए आप मुझे धन दीजिए। सूर्य और चन्द्रमा उसे धन न दे सके इसलिए छिप गए। अब जब ग्रहण लगता है तो सूर्य और चन्द्रमा के भक्त अनेक प्रकार के अनाजों को मिला कर भिखारियों को बांटते हैं ताकि सूर्य और चन्द्रमा अपनी शर्मिन्दगी से मुक्त हो सकें। . . . . .

इस कहानी में खास बात यह है कि इसका पौराणिक कहानी से कोई मेल नहीं है। न तो राहु का वर्णन है और न ही हिन्दू कथाओं का सहारा लिया गया है। ग्रहों की अव्यवस्था को समझाने के लिए सामान्य ग्रामीण जीवन के तत्वों का सहारा लिया गया है; जैसे भूख, गरीबी, भिक्षा मांगना, दान के सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए पड़ोसी की मदद लेना तथा अपना वचन न निभा पाने की शर्मिन्दगी पर मुंह छिपाना। इस सबको एक कहानी के रूप में बांध दिया गया है ताकि ग्रहों की दुनिया को इहलौकिक रूप दिया जा सके। निम्न वर्ग के कथा संसार का उद्देश्य यह है कि अत्यंत अद्भुत पर भी विश्वास कराया जा सके। आखिर इससे अद्भुत और क्या हो सकता है कि सूर्य और चन्द्रमा के उच्च जाति वाले भक्त भूखे रहें और भंगियों व मेहतरों के डिब्बे अनाज से भरे हों, कि उच्च जाति के भक्त भीख मांगें, उनके देवता उधार लें, जबकि भंगियों और मेहतरों के पास उधार देने को अनाज हो। ग्रामीण समाज जैसे सिर के बल खड़ा हो गया हो, पर अफसोस कि यह परिवर्तन सिर्फ धार्मिक सोच के संसार में ही है।

फिर भी यह फेरबदल महत्वहीन नहीं है; यह गरीबों और हेय लोगों द्वारा अपनी हीन स्थिति को समझने और उससे उबरने की ज़रूरत की अभिव्यक्ति है। वे जब वास्तविक जीवन में समाधान नहीं पाते तो कल्पना की दुनिया में इसकी भरपाई करना चाहते हैं। यह इच्छा इतनी प्रबल तो नहीं है कि मूलभूत बदलाव की प्रेरणा बन पाए, फिर भी यह निश्चय ही निम्न वर्ग की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों की आलोचना अवश्य है।

इस बहस में जो बात हमारे लिए विशेष महत्व की है वह यह कि इस आलोचना में चाहे कितना ही बचकानापन हो, इसमें आगे के विकास के बीज छिपे हैं। इस विकास के प्रारंभिक दौर में इसमें उसी उच्चवर्गीय संस्कृति की भाषा का प्रयोग किया जाता है जिसकी यह आलोचना करने निकली थी। हालांकि मिथक-2 में पौराणिक सामग्री को उलट-पलट कर अछूतों के अनुभवों और बिम्बों के खांचों में बैठाने के संकेत मिलते हैं, लेकिन मिथक-3 में तो निम्न वर्ग की धार्मिकता परवान चढ़ती है। इस कहानी में ब्राह्मणीय संस्कृति द्वारा दी गई सामग्रियों के स्थान पर निम्न जाति के लोगों के जीवन के हालात और उससे उपजे बिम्बों का प्रयोग किया गया है। इस प्रक्रिया में इन्होंने कहानी के प्राचीन बिम्ब 'दान' को पीछे धकेल कर 'बकाया कर्ज़' के बिम्ब को प्रमुख बना दिया है। यह स्पष्ट रूप से 'आर्थिक धर्म विज्ञान' के दायरे से हटकर राजनीतिक अर्थशास्त्र की ओर एक कदम है।

दान नहीं, कर्ज़ की अदायगी

विकास की इस प्रक्रिया में आगे चलकर सूर्य और चंद्रमा के साथ राहु की शत्रुता की कहानी को हमारे समाज में मौजूद एक वास्तविक टकराव – कर्ज़दार और साहूकार के बीच के टकराव – के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश में प्रचलित इस कहानी को लिया जा सकता है।

मिथक:4

. . . . सूर्य और चंद्रमा राहु के कर्ज़दार हैं, इसलिए वह आकर उन्हें तंग करता है। यही ग्रहण है। भंगी और जमादार को दिया जाने वाला दान उसी कर्ज़ की अदायगी है . . . .

इस कहानी के कई संस्करण हैं और इसे काफी यथार्थ बारीकियों के साथ सुनाया जाता है।

मिथक:5

. . . . सूर्य भंगी का कर्ज़दार है पर वह कर्ज़ चुकाने से इंकार करता है। भंगी भी आसानी से टलने वाला नहीं है। वह सूर्य के द्वार पर धरना देकर बैठ जाता है। उसकी परछाई सूर्य पर पड़ती है। कुछ समय बाद उसका कर्ज़ चुका दिया जाता है और वह चला जाता है। . . . .

मिथक:6

. . . . किसी समय सूर्य और चंद्रमा दोनों ने धुभ यानी राहु से कोई चीज़ उधार ली थी। यह उधार चुकाया जाना ज़रूरी है। जब कभी सूर्य और चंद्रमा यह उधार नहीं चुका पाते हैं तो धुभ उन पर हमला करता है और उन्हें निगलने लगता है, परन्तु वह उन्हें पूरी तरह नहीं खा पाता और उगल देता है। चूंकि उधार अभी तक नहीं चुकाया गया है इसलिए यह प्रक्रिया बार-बार दोहराई जाती है।

इन कहानियों के साथ राहु देवलोक से उतरकर उस लोक का हिस्सा बन जाता है जहां इन सम्प्रदायों का जीवन गुज़रता है। जो कहानी आसमानी हिंसा के रूप में शुरू हुई थी वह सामाजिक हिंसा का रूप ले लेती है। वास्तव में (मिथक में जो कुछ घटता है उससे अलग) यह हिंसा प्रायः पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती हुई बंधुआ गुलामी के रूप में नज़र आती है और डोम समूह के लोग इसके सबसे अधिक शिकार होते हैं। भारत में ब्रिटिश राज के अंतिम समय के दौरान कर्ज़दारी ही डोमों पर सबसे बड़ सामाजिक बोझ था। कर्ज़ की अदायगी पीढ़ी-दर-पीढ़ी, कभी कभी तो सात पीढ़ियों तक, चलती रहती थी। सन् 1931 के एक अध्ययन के अनुसार उत्तर प्रदेश में डोम दास की तरह थे जो किसी ज़मींदार परिवार के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुड़े रहते थे, या फिर जीवन भर साहूकार के यहां चाकर बने रहते थे। उनकी गरीबी, सांस्कृतिक पिछड़ापन और कभी-कभी पेट भरने के लिए अपराध का सहारा

लेने की प्रवृति के पीछे कर्ज़ का यही बेरहम बोझ था।

शोषित शोषक के रूप में

हमेशा दमन का शिकार होने वाले के मन में अधिकार (ताकत) की वही तस्वीर बनती है जो स्वयं उनके शोषणकर्ताओं की होती है। चूंकि ये जातियां कर्ज़दार रही हैं इसलिए उनकी नज़र में ताकत वही है जो साहूकार उनके ऊपर रखता है। इसलिए लंबे समय से कर्ज़ में डूबी अनेक ऐसी जातियों और समुदायों की लोक कथाओं में साहूकार को ही अपना आदर्श बना दिया जाता है। जैसे बस्तर के धुरवा समूह की एक कहानी में एक अनाथ लड़के के जीवन की सफलता में साहूकार बन जाना सबसे बड़ी उपलब्धि बताया जाता है। बनियों के क्रूर शोषण से पीड़ित बंबई और राजस्थान के गरासिया लोग मानते हैं कि बनिये के पास ताकत है कि वर्षा कम करवा दे और अकाल पड़वा दे ताकि अनाज की कीमत और उसका मुनाफा बढ़े। राहु के मिथकों में इस छवि को बहुत दूर तक खींचा गया है। वे लोग जो साहूकार के सामने बिल्कुल दबे और झुके हुए हैं, साहूकार को ही अपना रक्षकदेव मान लेते हैं।

लेकिन यदि इस रूप में डोम, दुसाध, भंगी और मांग साहूकार की ताकत को स्वीकार करते हैं तो इसी के माध्यम से वे अपनी मुक्ति भी ढूंढते हैं। उदाहरण के लिए राहु के वंशज तो वे हैं ही; उपरोक्त प्रक्रिया के द्वारा वे स्वयं साहूकार के पद पर जा बैठते हैं तथा आदर्श संसार में उस दासत्व का नाश करते हैं जिससे असली दुनिया में निपटने में वे असमर्थ हैं। विडंबना यह है कि शोषित द्वारा शोषक का जामा पहनने से जो नकारात्मक चेतना उत्पन्न होती है उसकी छाप असली दुनिया को बदलने के कई प्रयासों पर नज़र आती है। परन्तु जैसा कि मिथक 4 और 6 से पता चलता है, धर्म की दुनिया में होने वाली उथल-पुथल भी इस विडंबना से मुक्त नहीं है।

♦ ♦ ♦

अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि राहु को स्वर्ग से पृथ्वी पर उतारने की प्रक्रिया के द्वारा सिवा झूठी मुक्ति के और कुछ नहीं मिलता। फिर भी यह सोचना गलत होगा कि हम आगे नहीं बढ़े हैं। दरअसल हम मिथक-1 से काफी आगे, मिथकों की इस शृंखला के आखिरी छोर पर हैं। कितने समय पहले समुद्र मंथन हुआ था और अमृत के लिए देवताओं और राक्षसों के बीच युद्ध हुआ था? कितने समय पहले अमरत्व की दावत में सिर काटा गया था? आज हम अपने वर्तमान में स्थानीय अनुभवों की ठोस ज़मीन पर खड़े हैं, हालांकि शायद उतनी मज़बूती

से नहीं जितना होना चाहिए। यह सच है कि आज भी ग्रहण जैसी प्राकृतिक घटना का स्पष्टीकरण विज्ञान की जगह मिथकों में ढूंढा जा रहा है। परन्तु अब वे मिथक नहीं रहे जिनमें नायक देव और दानव हों; नायक अब आम इंसान है। अमृत के लिए संघर्ष अब उन भौतिक संसाधनों पर नियंत्रण का सवाल बन गया है जिनके सहारे आम लोग जीते हैं। वास्तव में जो कहानी पहले ब्राह्मणीय फंतासी का नमूना थी उसे गरीब और दमित लोगों की मासूम कल्पना ने हमारे समय की लोक कथा के रूप में ढाल लिया है।

इस कहानी के मत्स्यपुराणीय संस्करण के अनुसार "राहु सूर्य और चंद्रमा का शत्रु बन गया तथा वह आज तक ग्रहण के समय उनसे बदला लेता है।" राहु ने अब तक जी भर कर बदला नहीं लिया है तभी निरंतर उसकी कोशिशें जारी हैं। फिर भी यह उसके फायदे की बात है कि उसके दुश्मनों की पहचान पृथ्वी पर कर ली गई है। इन कहानियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहीं दिमाग में यह संघर्ष अभी भी जारी है – अंतिम तीन मिथकों के रूपक यह बताते हैं कि उस दिमागी संघर्ष को सामाजिक संघर्ष में बदलने की आज पहले से कहीं बेहतर संभावनाएं हैं।

यह लेख 'द ट्रुथ युनाइट्स: एसेज़ इन ऑनर ऑफ समर सेन, (संपादक अशोक मित्र) किताब से लिया गया है। इस किताब में प्रोफेसर रणजीत गुहा का लेख 'द केरियर ऑफ एन एंटी गॉड इन हेवेन एंड ऑन अर्थ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।

प्रोफेसर रणजीत गुहा: आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन के एक मुख्य स्तंभ। सबाल्टर्न स्कूल के प्रवर्त्तकों में मे एक रहे हैं। प्रो. गुहा ने मुख्य रूप मे आधुनिक भारत के कृषक आंदोलनों पर काम किया है। इनकी एक मशहूर किताब 'ऐलीमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पेज़ेंट इनसरजेंसी इन कॉलोनियल इंडिया' है।

गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से जुड़े हैं।